प्रतिमान

समय समाज संस्कृति

जुलाई-दिसम्बर, 2017 (वर्ष 5, अंक 10)
समाज-विज्ञान और मानविकी की पूर्व-समीक्षित अर्धवार्षिक पत्रिका

भारतीय भाषा कार्यक्रम
विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सीएसडीएस)
29, राजपुर रोड, दिल्ली-110054 फ़ोन : 91.11. 23942199
ईमेल : pratiman@csds.in; वेबसाइट : www.csds.in/pratiman
+

21-ए, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002 फ़ोन : 91 1123273167, 23275710
ईमेल : vaniprakashan@gmail.com; वेबसाइट : www.vaniprakashan.in

सेंटर फ़ॉर द स्टडी ऑफ़ डिवेलपिंग सोसाइटीज़, 29, राजपुर रोड, दिल्ली-110054 के निदेशक संजय कुमार के लिए प्रकाशक एवं मुद्रक अमिता माहेश्वरी, वाणी प्रकाशन, 21-ए, 4695, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002 द्वारा प्रकाशित और ऑप्शन प्रिंटोफ़ास्ट, 41, पटपड़गंज इंडस्ट्रियल एरिया, दिल्ली-110092 में मुद्रित। सम्पादक : अभय कुमार दुबे

मूल्य : व्यक्तिगत : ₹ 350, संस्थागत : ₹ 500
विदेशों के लिए : $ 20+डाक ख़र्च अतिरिक्त या किसी अन्य मुद्रा की समकक्ष राशि

ISSN: 2320-8201

अनुक्रम

प्रतिमान के पाँच साल : आलोचनात्मक मूल्यांकन की कसौटियाँ

दसवें *प्रतिमान* के प्रकाशन के साथ ही समाज-विज्ञान और मानविकी के क्षेत्र में विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सीएसडीएस) के भारतीय भाषा कार्यक्रम द्वारा चलाए जा रहे इस प्रयोग के पाँच साल पूरे हो जाएँगे। यह अवधि लम्बी तो नहीं है, लेकिन इतनी छोटी भी नहीं है कि इसे सिंहावलोकन के अवसर की तरह ग्रहण न किया जा सके। हमने 2013 में इस उद्यम की शुरुआत अपने आप से यह सवाल पूछते हुए की थी कि क्या हम आम तौर से भारतीय भाषाओं में, और ख़ास तौर से हिंदी में, एक विमर्शी संस्कृति का शीराज़ा खड़ा कर सकते हैं? इस प्रश्न पर शंकाओं के साये मँडरा रहे थे। पहली शंका यह थी कि विमर्श के लिए भारतीय भाषाएँ मुख्यतः अनुवाद-निर्भर थीं। दूसरे, हमारी अनिश्चितताओं के केंद्र में भारतीय मौलिकता का स्वरूप था। हमें यह भी सौ फ़ीसदी नहीं पता था कि हिंदी में अनुवादपरकता से मुक्त विमर्श की वह भाषा कौन सी होगी जिसके ज़रिये विचारों की दुनिया में इस मौलिकता का संधान किया जाएगा। यहाँ तक कि व्यापक हिंदी समाज के भीतर अपने पाठकों और लेखकों के रूप में अपने सम्भव सहयात्रियों के सम्पर्क-सूत्र भी हमारी फ़ाइलों में तैयारशुदा मौजूद नहीं थे। अर्थात्, जो विमर्शी संस्कृति कुछ धुँधली और कुछ साफ़ हमने कल्पित की थी, उसकी रूपरेखा स्पष्ट होनी बाक़ी थी। आज आगे क़दम बढ़ाते हुए जब हम मुड़ कर पीछे देखते हैं तो लगता है कि पाँच साल तक चली प्रयोगधर्मिता और सतत अध्यवसाय की प्रक्रिया से ही हमें वह आईना मिला है जिसमें हमें अपनी अग्रगति और समस्याओं की शक्ल दिखाई पड़ रही है। इसी दर्पण में भविष्य की वे छवियाँ दिख रही हैं जिनसे आगे का कार्यक्रम निर्धारित होगा।

इस प्रयोग की कुछ सफलताएँ निर्विवाद हैं। मसलन, पाँच वर्षों में हमें कम से कम इतना पता चल गया है कि हर साल सघन विमर्श के लगभग सात सौ पन्ने प्रकाशित करने के लिए हमारे पास उम्दा लेखकों, चिंतनशील विमर्शकर्ताओं, बहस-

समीक्षा और संवाद के लिए उत्सुक बुद्धिजीवियों की कमी नहीं है। इन बौद्धिकों के पास एक ऐसी भाषा भी है जो हिंदी की साहित्यिक-सांस्कृतिक-पत्रकारीय कुठाली में पिछली डेढ़ सदी के दौरान ढल कर तैयार हुई है। इस भाषा का बहु-उपयोगी लचीलापन इसे नये विषयों और अनुसंधानों के लिए एक ज्ञानमीमांसात्मक औज़ार के रूप में पेश कर देता है। इस भाषा को बरतने वाले बौद्धिकों में अंग्रेज़ी की दुनिया में सफलतापूर्वक विचरने वाले स्थापित और सक्षम दुभाषी विद्वान तो हैं ही, विद्वत्ता की सम्भावनाओं से लैस नये अनुसंधानकर्ता भी शामिल हैं। हिंदी के विशाल संसार में अपनी उपस्थिति दर्ज कराने का मोह इतना प्रबल है कि जिन विद्वानों के पास हिंदी में लिखने का मुहावरा नहीं है, वे भी *प्रतिमान* के पृष्ठों पर दर्ज होने के लिए इस भाषा में हाथ आजमाना चाहते हैं, और हमारा सम्पादक-मण्डल ऐसे नये हिंदी-अभ्यासकों को बगल में बैठा कर उनकी रचनाओं की भाषा पर मिलजुल कर काम करने के लिए तैयार है। कम से कम यह संरचनागत यथार्थ पिछले पाँच वर्षीय उद्यम ने हमारे सामने साफ़ कर दिया है। यानी, न तो *प्रतिमान* पढ़ने वालों की कमी है, और न ही उसमें लिखने वालों की। अगर कहीं कोई कमी है तो उन संस्थागत प्रयासों की है जिन्हें निरंतर बेहतर बनाते जाने से हिंदी में समाज-विज्ञान पढ़ने और लिखने वालों का यह दायरा उत्तरोत्तर बढ़ता जाएगा।

लेकिन, हिंदी ने जो संरचनात्मक सुविधाएँ *प्रतिमान* को दी हैं, उनका उपयोग करके इसके पृष्ठों पर रचे जा रहे विमर्शी संसार के मूल्यांकन का प्रश्न इस सफलता के बावजूद बक़ाया रह जाता है। दरअसल, हम जो संसार गढ़ रहे हैं, उसे आलोचना की कसौटियों पर कसने की ज़रूरत कभी ख़त्म नहीं होनी चाहिए। इसी नज़रिये से दसवें *प्रतिमान* में इस प्रयोग की पाँच समीक्षाएँ प्रकाशित की जा रही हैं। दलित चिंतक संजय जोठे ने आम्बेडकरवादी दृष्टिकोण से *प्रतिमान* द्वारा की जा रही ज्ञान-रचना की दिशा पर एक तीखी टिप्पणी की है। वे मानते हैं कि शायद हमने गाँधी और अरविंद जैसों के रूप में कुछ ऐसे मार्गदर्शकों को चुन लिया है जिनके अतीतगामी रवैये के कारण मौलिकता अर्जित करने का प्रोजेक्ट विफलता के लिए अभिशप्त हो जाएगा। दर्शनशास्त्र की विदुषी सुधा चौधरी ने अपनी आलोचना से जोठे के इस स्वर को और चुनौतीपूर्ण बना दिया है। उनका मूल्यांकन है कि केवल विमर्श के लिए विमर्श और ज्ञान के लिए ज्ञान की रचना *प्रतिमान* को व्यवस्था-निरपेक्ष बना देगी जिसके कारण वह अंतत: अपनी धार खो देगा।

आज कल अज्ञेय की जीवनी के लेखन में रमे हुए अक्षय मुकुल और वरिष्ठ विद्वान हरीश त्रिवेदी के मूल्यांकन *प्रतिमान* के किरदार को एक भिन्न तरीके से परिभाषित करते हैं। ये दोनों समीक्षक इस पत्रिका की बौद्धिकता में अंतर्निहित बहुआयामी ग्रहणशीलता और संवादप्रियता को रेखांकित करते हुए उसे एक उदीयमान मंच के तौर पर पेश करते हैं। इन्हें लगता है कि ज्ञानार्जन के विषम प्रश्नों से जूझने के लिए विचारधारात्मक खाँचाबंदी से बचते हुए इसी तरह दोनों सिरों पर खुले रवैये की ज़रूरत है। भाषा और वर्तनी के पहलुओं पर विशेष दृष्टि रखने वाले संत समीर ने पत्रिका की भाषा-शैली की उपयोगी समीक्षा की है। हमारी कोशिश अगले कुछ अंकों में इस तरह की टिप्पणियों का प्रकाशन जारी रखने की होगी।

पहले की ही तरह यह अंक भी बहुअनुशासनीय सामग्री परोसने की परम्परा आगे बढ़ाता है। लेकिन इस बार यह विविधता पाठकों को थोड़ा चकित कर सकती है। इसके तहत एक तरफ़ उन्हें 'समीक्षा-लेख' के रूप में प्रसन्न कुमार चौधरी के माध्यम से राजनीतिक आर्थिकी के क्षेत्र में थॉमस पिकेटी और कार्ल मार्क्स के विचारों के बीच द्वंद्व और समानता की विस्तृत समीक्षा मिलेगी, और दूसरी तरफ़ 'आईना' में राधावल्लभ त्रिपाठी पुराणों के विशाल वाङ्मय में उतरने के लिए विवरणात्मक सीढ़ियाँ मुहैया कराते दिखेंगे। इसी तरह एक तरफ़ ज्योतिर्मय शर्मा का 'विशेष लेख' सावरकर द्वारा रचित दो नाटकों के बारीक भाष्य के ज़रिये हिंदू राष्ट्रवाद की अहिंसा-भीति का संधान करते हुए मिलेगा, और दूसरी तरफ़ 'बहस' में अम्बिकादत्त शर्मा और विश्वनाथ मिश्र महिषासुर विमर्श की प्रामाणिकता को इतिहास और मिथक की अन्योन्यक्रिया से पैदा होने वाले तनाव के आईने में परखते हुए दिखेंगे। हिंदी के साहित्येतिहास से रीतिकाल की दो सदियों के विलोपन से जुड़ा विवाद इस अंक में भी जारी है। इसी विषय पर आयोजित और सुधीश पचौरी की रचना पर एकाग्र 'समीक्षा-संवाद' में वेंकटेश कुमार और डॉ. राजकुमार ने दो स्पर्धारत दृष्टिकोणों का प्रवर्तन किया है।

'दृष्टि' में इस बार दो लेख प्रकाशित किये जा रहे हैं। एक में हिलाल अहमद ने गाँधी की उस समझ की नवीन व्याख्या पेश की है जिसके ज़रिये उन्होंने मुस्लिम-प्रश्न संसाधित किया था। 'दृष्टि' में ही आदित्य निगम ने अक्टूबर क्रांति के सौ साल पूरे होने के मौक़े पर इस युगप्रवर्तक घटना के युरोकेंद्रीय आग्रहों का अनावरण किया है। पिछले अंक में आदित्य ने वि-उपनिवेशीकरण पर अपने विमर्श का दूसरा हिस्सा लिखने का वायदा किया था, जिसे वे अगले अंक में निभाएँगे। 'सामयिकी' में भी दो लेख हैं। कमल नयन चौबे ने भारतीय अर्थव्यवस्था के मौजूदा संकट का जायज़ा लेते हुए उसके सम्भावित राजनीतिक फलितार्थों पर विश्लेषणात्मक निगाह डाली है। दूसरे लेख में नरेश गोस्वामी ने समान नागरिक संहिता के साथ उलझे हुए लैंगिक न्याय और अल्पसंख्यक प्रश्न के मुद्दों पर चल रही बहस की कुशल नक़्शानवीसी की है। 'परिप्रेक्ष्य' में दलित साहित्य के इतिहासकार बजरंग बिहारी तिवारी ने मलयालम की दलित-कविता के उदय और विकास की विभिन्न मंज़िलों से हिंदी के पाठकों का विस्तृत और अर्थवान परिचय कराया है।

एक पूर्व-समीक्षित पत्रिका के रूप में *प्रतिमान* के पृष्ठों पर इस बार जो सामग्री है वह गाँधीवादी समाजसेवा, खेतिहर क्षेत्र में नारीवाद की अभिव्यक्ति और गिरमिटिया मज़दूरों के संघर्ष और उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रवाद के बीच तनावों के अनुसंधानपरक आख्यान पेश करती है। पिछले अंक में काशी प्रसाद जायसवाल के जीवन और कृतित्व पर निगाह डालने वाले लेख के बाद यह अंक एक बार फिर जीवनी-साहित्य को समृद्ध करने में योगदान करता है। सागर तिवारी ने गाँधीवादी समाजसेवी अमृतलाल ठक्कर उर्फ़ ठक्कर बापा के जीवन का लेखाजोखा लिया है। देवारती राय चौधरी बिहार के एक पिछड़े हुए ज़िले अररिया में खाद्य-सम्प्रभुता की धारणा के इर्द-गिर्द किये गये फ़ील्डवर्क के माध्यम से दिखाती हैं कि स्त्री का श्रम और उसकी खेतिहर योग्यताएँ किस तरह पुरुष प्रधान समाज में

दोयम दर्जे पर डाल दी जाती हैं। कोई सौ साल पहले भारत से गिरमिटिया मज़दूर श्वेत साम्राज्यवाद की सेवा करने के लिए पानी के जहाज़ों पर बैठा कर ले जाए गये थे। राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सक्रिय आशुतोष कुमार उन कर्मठ अनुसंधानकर्ताओं में प्रमुख हैसियत प्राप्त कर चुके हैं जिन्होंने गिरमिटिया मज़दूरों की ऐतिहासिक जद्दोजहद के विभिन्न संदर्भ आलोकित किये हैं। 1917 में इस प्रथा के समाप्त होने के बाद सौ साल गुज़र चुके हैं। इसी के उपलक्ष में उनका लेख 'भारतीय राष्ट्रवाद बनाम गिरमिट प्रथा' दसवें *प्रतिमान* की आवरण कथा है। यह उपनिवेशवाद विरोधी भारतीय राष्ट्रवाद के उस बहुत कम चर्चित पक्ष पर उँगली रखता है जो न केवल अप्रिय है बल्कि हमारी आज़ादी के आंदोलन की आभा को कुछ मंद कर देता है।

इस अंक में समीक्षा-लेख और समीक्षा-संवाद के अलावा पाँच विचारोत्तेजक समीक्षाएँ हैं। नंदकिशोर आचार्य ने हीगेल के भारत संबंधी लेखन, अनामिका ने अभय कुमार दुबे की रचना *फ़ुटपाथ पर कामसूत्र*, कंचन शर्मा ने कृष्ण कुमार की बहुचर्चित कृति *चूड़ी बाज़ार में लड़की*, चंदन श्रीवास्तव ने हिंदी की साहित्यिक संस्कृति पर डॉ. राजकुमार की रचना और कुमार प्रशांत ने नंदकिशोर आचार्य द्वारा विनोबा-दृष्टि की व्याख्या की गम्भीर गवेषणाएँ की हैं।

पच्चीस साल पहले छह दिसम्बर, 1992 को रामजन्मभूमि आंदोलन बाबरी मस्जिद ध्वंस के साथ ही ख़त्म हो गया था। इस मौक़े पर *प्रतिमान* के पृष्ठों पर एक पुस्तक-अंश प्रकाशित किया जा रहा है जो आशिस नंदी, शिखा त्रिवेदी, शैल मायाराम और अच्युत याग्निक द्वारा रचित बहुपठित कृति *राष्ट्रवाद का अयोध्या काण्ड* से लिया गया है। 'आख़िरी हमला' शीर्षक से प्रकाशित यह पुस्तक-अंश दिखाता है कि बाबरी-ध्वंस किस तरह 'राष्ट्रीय भावनाओं का प्रकटीकरण' या अनायास घटित होने वाली एक 'दुखद घटना' न हो कर समझ-बूझ कर रची गयी एक साज़िश थी।

'स्मृति-शेष' में नरेश गोस्वामी ने समाजशास्त्री डी.एन. धनगरे के कृतित्व पर प्रकाश डाला है।